नमस्कार नाना

हिन्दी ADDA

मुकेश वर्मा

नमस्कार नाना

आज जिंदगी के इस मोड़ पर ठिठककर मैं ना जाने क्यों पीछे देखने लगा हूँ। मैं तो सोचता था कि हमेशा आगे और आगे आने वाले दिनों के एक के बाद एक उठने वाले आवरणों के गोपन रहस्यों में मजेदार ताकाझाँकी करता रहूँगा। फिर जाने क्या हुआ। मैं देखने लगा, पीछे - पीछे - अतीत की असमाप्त परछाइयों में कितने ही चेहरे

खोजने लगा। मैं चेहरे जो पल दो पल को मिले, किसी अनजानी सड़क पर, किसी अँधेरी गली के धुएँ भरे मोड़ पर, उजली जगमगाती रोशनी के बीच दमकते हुए, अनजानी गंधों के ढेर सारे रंगों के बीच झुलसते हुए, अच्छे-बुरे-भले, दुखी-सुखी, खुश-उदास, प्यार, घृणा या जुगुप्सा पैदा करते बेचैन लोग - मेरे अपने - मेरे पराये।

इन सब के बीच एक चेहरा ज्यादा साफ और देर तक रहता है, और वह नाना तुम हो! करीब 6 फुट के आसपास कद या हो सकता है कि कुछ कम हो लेकिन मुझे वे हमेशा एक बहुत ज्यादा लंबे तगड़े और मजबूत काठी के लगे। देखकर मन में तेजी से फैलता हुआ ख्याल उठे कि ऐसी शानदार शख्सियत मुश्किल से कभी दोबारा मिले। अच्छा-खासा लहीम-शहीम कद, तपा हुआ सुतवाँ चेहरा, भरी हुई सफेद भव्य मूँछें और अनगिनत झुर्रियों की तहों में लिपटी मजबूत हड्डियाँ, तिस पर पंजों की जकड़ इतनी सख्त की कलाई छुड़ाने में माथा पसीनों से भर-भर उठे। पान से रचे लाल दमकते होंठ जिनकी कोरों से उमगती मुस्कुराहटों के सिलसिले तेज भूरी आँखों की चमक को दोबाला करते।

मुझे नहीं मालूम कि पहली बार उन्हें कब देखा था लेकिन इतना जानता हूँ कि जब जब उन्हें अपनी नजर से देखा, मुझे वो पसंद आए। यहाँ 'अपनी नजर' से जो तात्पर्य है उसको बताने से पूर्व मुझे अपने बारे में एक दो बातों का जिक्र करना चाहिए। मेरे भीतर यह कैसी आदत बहुत बचपन से ही जड़ जमा चुकी थी कि आदमी एक नजर में या तो पसंद आ जाता है या नापसंद, इन दोनों श्रेणियों में न आने वाले लोग मेरे लिए कोई मायने नहीं रखते। इसे मैं आदत भी न कहूँ, बेहतर कहना चाहिए - प्रवृत्ति को मैं अपने तईं अपने अंदाज और तौर-तरीकों से जाँचता रहता हूँ। प्रायः देखा गया है कि मेरे भीतर मचान पर बैठा कोई सतर्क सजग शिकारी अपनी सभी इंद्रियों को सर्चलाईट की तरह इस्तेमाल करता हुआ जंगल की आहटों पर ध्यान लगाये रहता है, दूर से दिख रहे धब्बो को शक्लें देता रहता है और इन ख्वाबों-ख्यालों को हकीकत की जद में लाने की कवायद करता रहता है।

हालाँकि मेरे भीतर हो रहे लगातार इस उतार-चढ़ाव और घुन्नेपन को कोई ताड़ नहीं पाता क्योंकि सामने एक दूसरा चेहरा पेश होता है जो हद से ज्यादा लापरवाह और मस्तमौला होता है। यह ढोंग मुझे वाकई दिलो-जान से अच्छा लगता क्योंकि मैं

हमेशा एक मुखौटे में अपने आपको बचाए हुए रखना चाहता। लेकिन इस पूरे बयान में आपको मेरी इस ग्रंथि से कोई मतलब नहीं होना चाहिए क्योंकि इस समय मैं नहीं, नाना मुखातिब हैं जिनका किस्सा मैं बयान कर रहा हूँ और यह काम मुझे बिना अपने आपको बीच में ठूँसे हुए पूरी ईमानदारी से करना चाहिए जो मेरे लिए महामुश्किल है, लेकिन करूँगा जरूर क्योंकि मैंने पीछे देखने की गुस्ताखी की है और निजात हासिल करने के लिए अब लाजिमी है कि बरसों पीछे छूट गए नानाजी का कुर्ता खींचकर मैं उनसे फिर उसी तरह से लिपट जाऊँ जैसे कि अक्सर लिपट जाया करता था, तब उनके मुँह से जर्दे की गमकती खुशबू और झुर्रियों से भरे गदबदे जिस्म का अनोखा स्पर्श, साथ में सफेद बर्फ सी शानदार मूँछों का गालों पर सिहर सिहर कर बिखरना मुझे एक अनिवर्चनीय सुख में डुबो देता था। उनके आलिंगन में ना जाने क्यों एक मर्दानगी और बुलंदगी का अहसास होता था। सुरक्षा, चाहत और आधिपत्य के भीतर कुलबुलाते-गुदगुदाते भाव, इतने ज्यादा कि मैं उनकी बाँहों में जज्ब हो जाना चाहता या हो ही जाता। शायद मेरे भीतर नारीत्व का कोई भाव उनके प्रति समर्पित था। उस वक्त मैं करीब 5-6 से लेकर 12-13 साल का रहा होऊँगा और नर-नारी के भावों-भावनाओं की जानकारी नहीं रखता था लेकिन उस वक्त की उठी हुई झनकार अभी तक शिराओं में गूँजती है।

जब नानाजी हँसते तो लगता था जैसे कोई अपूर्व मनुष्य मुस्कान बिखेर रहा हो और मैं टुकुर टुकुर देखता हुआ वह लीलामृत छककर पीता रहता था, उस समय यानि हँसते हुए उनकी फड़कती हुई मुछों के चमकीले रेशों को और उस लास्य को मैं अपने होठों के ऊपर उस खाली स्थान पर महसूस करता जो तब तक कोमल था और काली कठोर कर्कश मूँछों द्वारा भविष्य में हथियाया जाने वाला था। मैं एकांत में अक्सर ऐसा अभ्यास करता। रुई के फाहों को मूँछों जैसा अनगढ़ बेडौल आकार देता, फिर आईने में देखता रहता, मनमर्जी का कुछ कुछ बोलता और हँसता एक अभिनेता की तरह, लेकिन फिर भी मुझे वह मजा और संतुष्टि नहीं मिली जो नानाजी की मूँछों की शान पर न्यौछावर होते हुए मिलती थी। भीतर यह एक खब्त बना ही रहा और स्वीकार करता हूँ कि आज भी है। वयस्कता की पूरी उमर पाने के बाद भी जब कभी एकांत में होता और बिजली की कौंध की तरह वह पुरानी उमंग जगती तो मैं हँसता, फिर चुपचाप आईना रेखकर फाहों को उँगलियों से मसलता या टुकड़े-टुकड़े कर देता,

तब मुझे अनजाने ही किसी उदास संगीत की याद आती। एक सूनेपन से भर उठता। कुछ खो जाने की टीस और कुछ ना कर पाने का खेद मुझे हड़बड़ा देता।

उन बातों के किस्से अनगिनत हैं जिनकी तह पर तह जमाते हुए मैं आसमान में पहुँचकर एकबारगी नाना के करीबतर हो सकता हूँ क्योंकि जिस कशिश में गिरफ्त हो, लगातार नाना के बारे में जानकारी जुटाना मेरा उन दिनों का अच्छा-खासा शगल था। जैसे कोई बटुक घोर जंगलों में भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियाँ ढूँढ़ने में मगन हो। और यह जज्बा बोरियत से परे, मजेदार अधिक रहा कि जितने भी लोग मिले, नाना के बारे में एक से एक किस्से और दिलचस्प बातें सुनने को मिली और मैं चिलमन के पीछे छुपी माशूका की तरह उस वीर बहादुर घुड़सवार की कहानियों को दिल के खजाने में भरता गया। तब मैं समझ सका कि एक प्रेमी और चोर में कोई फर्क नहीं होता।

एक बात जो मैंने अजब सुन रखी थी कि वे बड़े क्रोधी स्वभाव के थे और नाक पर मक्खी नहीं बैठने देते थे। यहाँ मुझे कुछ अटपटा लगता था। तेज तर्रार इनसान होना तो मुझे भाता था। उन दिनों कहानियों के नायक ऐसे ही होते थे और उनके ओजस्वी कारनामों में मन रमता था, लेकिन क्रोध के बारे में अच्छी राय नहीं थी। मेरे पिता, चाचा, भाई, बहिन, लगभग सभी मास्टर अैर पास-पड़ोसी, रिश्तेदारों में अधिकतर क्रोधी भरे पड़े थे जो वक्त-बेवक्त आग-बबूला होते रहते थे। मुझसे इन सबसे बहुत एतराज था लेकिन पिटने के अलावा कुछ कर भी नहीं सकता था। इसलिए लोगों की बात पर ना तो भरोसा हो पाता और ना ही जी करता था। फिर मेरे देखते कभी ऐसे वाक्ये भी नहीं हुए जिससे नाना के गुस्सैल होने का पता चलता जबकि हाल यह था कि हम सब भाई बहिन उन्हें दिन रात घेरे रहते और माँ के शब्दों में उन्हें हलाकान करते, पर नाना के चेहरे पर कभी गुस्से की एक हल्की लकीर नहीं उभरी बल्कि वे हमारा इंतजार करते ही लगते जो हमारे लिए गहरे लाड़-प्यार की आश्वस्ति थी। लेकिन मेरा अनुमान था कि वे क्रोधी भले ना हों लेकिन गुस्सा करना चाहते होंगे क्योंकि जब भी वे मुस्कुराते थे, गौरवपूर्ण ढंग से मुस्कुराते थे। कहानियों में गौरवपूर्ण गर्वीले नायक ही क्रोध करना जानते हैं और इस तरह से मुस्कुराते हैं। यह बात नाना पर जँचती और हमें भी भली लगती।

वह कहते, प्रेम से सराबोर हँसी दुनिया की सबसे मूल्यवान संपत्ति है। बाकी तो वे कुछ कमा न सके, ज्यादातर गवाया ही परंतु प्रेम के मामले में वे धनी रहे। उन्हें प्यार बहुत मिला। उन्होंने उसे दिल से बाँटा भी। मैंने कभी उनके मुँह से नफरत या वैमनस्य की बातें नहीं सुनी। बुरा बोलने का मन कभी नहीं हुआ। अगरचे ऐसे प्रसंग उठे जो भी नाना अपने हँसी-मजाक वाले तरीकों से कन्नी काट गए। वे मजाक उड़ाने में और फब्तियाँ कसने में माहिर थे लेकिन परनिंदा या किसी को कोसने से बचते। वे बतरस के शौकीन थे लेकिन मकसद किसी का दिल दुखाना कतई नहीं होता था। वे इस बात का बेहद ध्यान रखते थे। यदि उनके व्यंग्य-वचन या कूटोक्ति से कोई आहत अथवा अपमानित होता लगे तो वे उसे मनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते और उसे खुश करके ही मानते। वे अपने आस-पास का वातावरण हमेशा हल्का और सरस बनाए रखते। वे कभी गंभीर नहीं हुए और दुखी कभी देखा नहीं गया। मुझे अब अचरज होता है कि उन्होंने अपने दुख का समय कैसे काटा होगा।

ऐसा तो हो नहीं सकता कि कभी उन पर दुख न पड़ा हो या तकलीफ और परेशानियों से वास्ता न हुआ हो। तब नाना ने क्या और कैसे निपटाया होगा, यह बात मेरे जेहन में खूब घूमती रही। मुझे जानना था किंतु कोई उपाय नहीं था क्योंकि नाना को मैंने उनकी शुरुआती जिंदगी के दौर में नहीं देखा था। संभव ही नहीं था। इसे मैं अपना दुर्भाग्य समझता था कि नाना जब मिले, काफी बूढ़े हो चुके थे। और काफी साल हो गए थे उन्हें बूढ़े हुए। सिर्फ उनके किस्से रह गए थे, वही शिकार की कहानियाँ, शेरो-शायरी के दिन, महफिलों के कारनामे, हँसी-मजाक-कहकहे, हेकड़ी की बातें, इक्का-दुक्का अंग्रेजों को छकाने की घटनाएँ या किस तरह किसिम किसिम के शौकों पर पैसा लुटाया गया या किसानों से सख्ती से लगान वसूलने की जगह खुद की गिरह से सरकारी खजाने में रकमें जमा कराईं गईं आदि-आदि। लेकिन इन सब में दुख कहाँ था। संकट की उन घड़ियों में नाना के इस मिजाज को देखते हुए यह जानना रोचक और जरुरी लगता था कि विपरीत स्थितियों से नाना कैसे निपटे और बात क्या बनी। लेकिन अफसोस कि कुछ खास हासिल न कर सका। केवल वही किस्से हाथ लगे जो अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग लोगों से अलग-अलग अंदाज में बार-बार सुने गए थे।

मुझसे पहले पैदा होने वालों के पास ऐसे किस्से हजार थे जो अब तक फफकारते थे। वे भी शायद इस बात को जानते थे, इसलिए शांत हो गए थे। लेकिन जब कभी कोई बात उनके स्वभाव के खिलाफ हो जाती या उन्हें नागवार गुजरती, उनके चेहरे के तेवर क्षण भर के लिए, बदल जाते। आँखें ठंडी और कठोर हो जातीं। कोई उबाल उठता सा आभासित होता लेकिन ऐसा कोई विस्फोट नहीं होता जैसा कि दूसरे लोग उनके बारे में प्रचलित किस्सों में बतलाते थे। हाँ, एक बात मेरे दिल में देर तक चुभती रहती कि हमारे तेजस्वी नायक ऐसे मौकों पर या तो एकदम चुप और काले पड़ जाते, जैसे कोई अपराधी कुत्ता दुबक गया हो या उनके चेहरे पर वितृष्णा की एक लंबी लकीर आँखों से ठोड़ी तक खिंच जाती, इतनी गहरी कि धारदार हथियार का आभास होता जो मोथरा पड़ गया है।

नानी की मौत के बाद मैंने नाना का अपराधी भाव से दुबक जाना ज्यादा बार देखा। नानी की मौत दरअसल उनकी मौत की शुरुआत थी। उनके भीतर का बहुत कुछ उसी दिन मरा था जिस दिन नानी निस्पंद जमीन पर पड़ी थीं। उनका बचा हुआ एकमात्र दाँत हमेशा की तरह निचले होठ पर लदा था। आँखें निश्चिंत और निर्भाव। शरीर लकड़ी सा अकड़ा हुआ जबकि नानी कितनी लचीली, गुदगुदी और कोमल थीं। वहीं खाली जमीन पर नाना बैठे थे, हतबुद्धि, उलझे हुए और स्तब्ध। वे बहुत कुछ बोलना चाह रहे थे और कुछ भी नहीं बोल पा रहे थे जबकि उम्मीद थी कि वे हमेशा की तरह धाराप्रवाह बोलते हुए इस घटना के बारे में विस्तार से बताएँगे और हम सब कष्ट देती उस धूसर छाया से उबर जाएँगे लेकिन निराशा हुई की नाना खुद ही गुम होते जा रहे थे। वे बार बार मेरी माँ के सिर पर हाथ की थपकियाँ देते हुए अस्फुट सा कहते, रुकते और असहाय यहाँ वहाँ देखते। पहली बार मेरे उस छोटे से जीवन का वह गौरवशाली महामानव मुझे निरीह लगा। उन क्षणों की निस्तब्धता और आतंक को पहली बार मैंने मौत के नाम से जाना जो तब उस कमरे में समाई हुई थी। नाना की हमेशा चमकाने वाली आँखें बुझी-बुझी और परेशान थीं। रह रहकर माँ का शरीर असंतुलित सा होकर हिलता और घुटी घुटी सी आवाज और रोने का स्वर उमड़ता। मैं भयाक्रांत बैठा था। चाहता था यह 'हॉरर' खत्म हो, नानी उठे लेकिन वे उठी नहीं, बल्कि उन्हें उठाकर घर के बाहर ले जाया गया। 'हॉरर' खत्म नहीं हुआ। अचरज की नाना के होते हुए भी मेरा डर घटा नहीं, बढ़ता गया।

बहुत दिनों तक तरह-तरह की ऐसी बातें सुनने-जानने को मिली जिनके धुँधलेपन के अलावा, मैं कुछ नहीं जानता था लेकिन एक अकेली और अनोखी बात मन में गहरे धँसकर उदास और विचलित कर गई कि एक दिन सभी बूढ़े मर जाते हैं। इस औचक रहस्य से मेरा जासूस मन सनसना गया और नानी की मृत्यु के बाद मेरा निश्चित मन हो गया कि अब नाना भी मरेंगे। मैं उनकी गहरी और सतर्क निगरानी रखने लगा। कहीं कहीं यह ओछापन भी लगता लेकिन इस बात के हाथ पैर थे जो भीतर जमीन पर मजबूती से पकड़ जमाए बैठे थे।

घिर्री में बंद मज्जे वाली डोर की तरह दिन मेरे हाथों से सटक रहे थे। गहरी नींद में सोए नाना के हल्के स्वर वाले खर्राटे कभी कभी अपने आप बंद हो जाते तो गर्मी की धू धू जलती दोपहर में एक अयाचित सन्नाटा तेजी से फैलने लगता कि कमरा छोटा होता चला जाता और मैं सिहर उठता। नाना, नाना... क्या हुआ? उनके खर्राटे फिर धीरे-धीरे से शुरू होते जैसे साज बजाते बैठक बदली गई हो। मैं आश्वस्त हो जाता। मुझे उन पर उस क्षण बेहद प्यार आता। मुझे लगता कि जैसे नदी में डूब रहे नाना को मैंने हाथ पकड़कर उबार लिया हो। मैं उनकी तरफ झुककर बैठता या लेटता और चाहता कि उन्हें और अधिक मजबूती से पकड़ लूँ।

ऐसे ही अवसर, मैं अनायास चुपचाप नाना के पैर दबाने लगता। उन्हें पैर दबवाने का शौक था और मुझे लालच क्योंकि उनसे अंतरंग होने और लड़ियाये जाने का यह अभूतपूर्व मौका होता जिसे खोना किसी नेमत से हाथ धो बैठने जैसा था। मेरे दूसरे भाई बिचकते थे। सिर्फ मँझले भैया पूरी तन्मयता से करते थे। दरअसल वे हनुमान के भक्त थे और सुशील बेटे कहलाते थे। हर प्रकार के देवी-देवताओं में अटूट श्रद्धा, बड़ों का आदर-सम्मान, विनम्रता, विद्योपार्जन तथा व्यायाम के महत्व को उन्होंने अब तक के अपने जीवन के साथ गूँथ-गाँथकर उसे प्रफुल्लित आटे की शक्ल दे दी थी। मैदा की लोई की तरह वे पहली नजर में ही भले लगते थे, इसलिए कभी मेरी उनसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं रही, और इसीलिए नाना के पैर दबाने का काम निर्द्वंद्व भाव से उनके जिम्मे छोड़कर मैं नाना के साथ विनोद वार्ता में जुट जाता। मैं उमर के हिसाब से काफी अच्छी बातें कर लेता था, ऐसा कहा जाता था इसलिए मेरा भी धृष्टतापूर्वक मानना था।

इस धाक को जमाने में नाना का बड़ा योगदान था। उन्हें बतौले लोग पसंद थे लेकिन उस हद तक कि जब नाना बोलना शुरु कर दें तो वे निश्चित ही चुप हो जाएँ। उस वक्त दुनिया जितनी थी, उसकी कुल राय के मुताबिक नाना बहुत देर तक, यानि सुबह से रात तक बातें करते रहने के अभ्यासी और व्यसनी थे बल्कि वे इस मामले में बदनाम भी काफी थे। लोग बहाने बनाकर खिसकने की जुगाड़ करते और नाना पकड़-पकड़ कर बिठाते। मुझे लोगों का रवैया अच्छा नहीं लगता। इन दिनों मेरे कानों में गहरी सुरंगें धँसी हुई थीं जिनमें से तमाम बातें उतरकर दिमाग में भर जाती और कभी भुलाई नहीं जातीं। नाना बातें काफी बढिया, दिलचस्प और ज्ञान भरी करते थे। वे दूर की कौड़ी लाते और उछालकर सोने का सिक्का बना देते। इस क्षेत्र में उनका मुकाबला नहीं था। वे किसी भी बात को उसके वजन से उठाते थे, जैसे वे किसी फूल की बात करते थे तो नजाकत पहले आती, फूल बाद में या किसी शिकार के संस्मरण में शेर तो जाने कब आता लेकिन दहाड़ पहले ही सुनाई पड़ जाती। उनके वर्णन में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण, क्रियापद आदि सभी चीजें जड़ाऊ गहने के नगों की तरह अपनी-अपनी जगह पर, अपने अपने समय में और अपनी अपनी हैसियत से सैनिक-परेड की तरह सामने आते, जगमगाते, झिलमिलाते और गायब हो जाते। नाना में यह गुण था जो उनके प्रति मेरी भक्ति को मजबूत करता था। वे किसी भी बात को इस तरह कहते जैसे एक साथ कई पतंगों से पेंच लड़ा रहे हों। यकीनन उस वक्त आँखें आसमान में टँगी की टँगी रह जाती। वे सधे हुए ध्रुपद गायक की तरह आवाज के आरोह-अवरोह, आलाप-द्रुत-झाला के साथ तन्मयता से श्रोता को एक-रस करते और एकाएक सम पर लाकर हाथ उठा देते कुछ इस तरह कि सभी आँख-नाक-कान एक पल में बदल जाते। बहती नदी की गति शरीर में झनझनाती रहती देर तक, यहाँ तक कि आज भी उसे उफनते प्रवाह को नस-नस में महसूस करता हूँ।

उन्हें दरबार लगाने का अजब शौक था। अकेले रहना पसंद नहीं था। शायद घबड़ा जाते। अकेले होने की दिक्कत में फँसते ही वे व्यग्र हो उठते और जल्द लोगों को बुलाने के उपक्रम में जुट जाते। घर या आस-पास का न मिला तो किसी भी को घेर लेते, यहाँ तक कि सड़क-चलते को और फिर उसकी दिलजोई करते। ऐसे संकट की उन घड़ियों में मैंने उन्हें एक से बढ़कर एक बेवकूफ या वाहियात आदमी को मुँह

लगाते देखा और नाना को ऊब नहीं, वितृष्णा नहीं। आराम से गपियाते रहते जब तक कि वह खुद ही भाग न ले। मसलन वे बरामदे में बैठे हैं, सामने की सड़क पर कोई उन्हें नजरअंदाज कर चला जाए, ऐसा हो नहीं सकता। वे दीगर बातों में व्यस्त हों तब भी। वे उसे आवाज देंगे, अनसुनी करने पर लगभग ललकार ही देंगे। फिर भला क्या मजाल है उसकी कि कमबख्त सीधे चलता चला जाए। हर हाल में उसे लौट कर आना ही पड़ता। गाँव का माहौल उन दिनों आजकल जैसा नहीं था।

कस्बाई रिश्तों और बुजुर्गियत का लिहाज रखा जाता था। सो वह सिर झुकाए बैठ जाता, अपनी किसी झंझट की व्यस्तता में होने बाबद मिमियाता हुआ। लेकिन उन फालतू बातों पर रत्ती भर गौर न करते हुए नाना दुनिया-जहान की झंझटों का महाराग छेड़ देते। पुराने वक्तों का कोई ऐसा बखेड़ा जिसके सामने उस भले आदमी की परेशानी पानी माँगती फिरे। फिर क्या होता। नाना का अंदाजे-बयाँ और किस्से की टेड़ी चाल। चाल पर लटपटाता चलता भोला शिकार। नाना के निपुण हाथों में कसी कमान। अब वे चाहें जो मोड़ दें। खेल उनका प्यादा उनका, बाजी उनकी। जब तक कोई दूसरा किस्मत का मारा आकर नहीं फँसता, तब तक उस गरीब की रिहाई का सामान नहीं जुड़ता।

इस तरह सिलसिलों के सिलसिले चला चलते। वे बड़े थे, गाँव के बुजुर्ग और कई स्थानीय रिश्तों के चलते उन्हें जोर से बुलाने के, बातें सुनाने के प्राथमिक और स्वयंसिद्ध अधिकार भी थे जिनका नाना भरपूर फायदा उठाते लेकिन इसे अपनी अपार लोकप्रियता और साख के बतौर पेश करते।

वे जो बातें कहते, सभी मजेदार होतीं, अनोखे अंदाज में, न पहले कभी सुनी, न पहले कभी जानी लेकिन लुभावनी और मन को रमाने वाली। अद्भुत, अचरज और आनंद से भरी कि हवा की बात पर मन भूरे चमकीले बादलों में कुलाँचें मारता अंतरिक्ष के कोने-कोने तक पहुँच जाता। पानी का जिक्र आने पर सात समुंदरों की अतल गहराइयों की गीली तहों में छुपने लगता। सूरज की किरणों, चाँदनी को धुआँ धुआँ बारिश और तीन लोकों के तिलिस्मों में आत्मा का पोर पोर भींग जाता। बातों का ऐसा रस भरा मदमाता सैलाब फिर कभी न पाया और न मन कभी कहीं, इस तरह या उस तरह भीग पाया।

मनुष्य के व्यवहार के संबंध में नाना अनोखी बातें कहते। कम से कम मुझे तो ऐसा ही लगता। आँखों की कैफियत पर उनका बहुत जोर होता।

'आदमी की आँखों में झाँको तो तुम्हें उसका हाल मिल जाएगा।'

मैं अचकचा कर पूछता - 'भला कैसे?'

'उसे समझने का केवल एक ही रास्ता है। लाख पर्दों में कोई छुपकर बैठे लेकिन आँखें दिल का हाल बता देतीं हैं। तबियत के रंग बयाँ हो ही जाते हैं।'

तब मैंने उनकी आँखों में देखा, एक गहरा दुख, अजब सी बेचैनी और अबूझ तकलीफ! क्या यह सब कहते हुए वे दुखी थे? उस वक्त कुछ समझ नहीं पाया लेकिन आज कोशिश करने पर समझ पाता हूँ कि कुछ दुख ऐसे भी होते हैं जो खुद से कम किंतु दुनिया से अधिक ताल्लुक रखते हैं पर अपने दुखों से भी ज्यादा तकलीफदेह होते हैं।

नाना कहते - 'शाम को लालटेन की रोशनी के गिरते पीलेपन से दीवार पर अद्भुत और अजनबी आकृतियाँ बनती और बिगड़ती हैं। उन्हें गौर से देखो तो दुनिया के रहस्य समझ में आ जाएँगे और उसी तरह से देखते रहोगे तो अपने मन के भीतर की सारी उथल-पुथल भी जान सकोगे। वस्तुतः जो सामने अव्यक्त है, वही भीतर व्यक्त है लेकिन इस सब के बावजूद फिर भी ऐसा कुछ रह जाता है जो बार बार छूट जाता है। यह जो छूटा हुआ है, वही वास्तव में हमारा अपना और निजी है। यह जान लेना या जान पाना ही जिंदगी है।

तब मुझे उनकी ये अबूझ बातें पल्ले नहीं पड़तीं। एक तो उन बातों में पेंच दर पेंच कहने का भटकाव और फिर किस्सागोई का ऐसा सुख जो सुनने में दिलकश लेकिन अर्थ अगम अपार। मन तो रमे पर बुद्धि में कुछ अटके नहीं। फिर वे हँसते हुए इतनी अटपटी और गूढ़ बातें कहते कि लगता कि वे हमेशा की तरह कोई मजाक कर रहे हैं। इन हालात में गहरा भरोसा करना मुश्किल। जो है, वह नहीं है। जो नहीं है, वस्तुतः वह है। जो ढूँढ़ोगे नहीं मिलेगा, जो मिलेगा, दरअसल वही तो गुमा हुआ था जिसे ढूँढ़ने की कभी फिक्र नहीं की गई। इसी तरह जिंदगी बीत जाती है और हम कहते रह जाते हैं कि कुछ मिला ही नहीं।

अजब उलट-बाँसियों और गुत्थियों में मन फँसा-फँसा सा फिरता। कहीं कोई ओर नहीं, कहीं कोई छोर नहीं। हैरत यह कि कुछ अभी चाहा भी नहीं। कभी-कभी मुझे लगता है कि नाना के पास बैठ-बैठ मैंने गहरे भरोसे जैसी कोई चीज बचपन के दिनों में घर के आँगन में वहीं कहीं खो दी। वे हर बात को इतने हल्के-फुल्के तरीके से लेते कि उसका वजन ही खतम हो जाता। अंतरिक्ष के कोने कोने में फैलता गुब्बारा ग्रहों-उपग्रहों को समेटता हुआ जब किसी अगोचर अद्भुत रहस्य की और बढ़ता कि इसके पहले नाना के किसी कटाक्ष से ऐन आँखों के सामने जर्रा-जर्रा बिखर जाता। मन रोता रह जाता। नाना हँसते रहते। गोद में उठा लेते। गिलहरी की पूँछ जैसी मूँछें कानों में पुसफुसातीं - 'कैसा बाबला है'! गुदगुदी होती और मैं रोते रोते हँस पड़ता। उनका यह खेल मैं कभी समझ नहीं पाया लेकिन कभी उनसे लड़ या बिगड़ नहीं पाया। नाना के लिए यह सब मामूली और रोजमर्रा की बात थी। कैसा भी और कितना भी गंभीर प्रसंग क्यों न हो, नाना उसे इतना और इस कदर हास्यास्पद बना देते कि बात की बेबात हो जाती और वह शर्मशार होकर फर्श पर दम तोड़ देती। नाना के कहकहे छत तोड़ देते। लोगों के मुँह बन जाते और नाना हमेशा की तरह बेपरवाह। उनके इस रवैये को आम तौर पर सब नापसंदगी से लेते, खास तौर पर नानी खासा झुँझलातीं लेकिन नाना के लिए मजाक उड़ाने का यह एक और उम्दा मौका होता। उस वक्त उनका चेहरा सधे हुए ढंग से निर्विकार और शरारत से हल्का थरथराता हुआ दिखाई पड़ता।

क्या यह उनका खेल था या जिंदगी जीने का अपना तरीका या अप्रिय और अवांछित स्थितियों से निपटने का अचूक हथियार या कि कोई गुप्त प्रतिशोध लेने का अंदाज! क्या कभी मैं जान सका या कोई और!

उनके किस्से गुजर चुके वक्त के थे, आज के तो कतई नहीं, लेकिन आज भी किसी नए-पुराने शहर में घूमते कोई बदशक्ल बरामदे वाले पीले रंग से पुते मजबूर जर्जर मकान और उसके बीच जंग खाए पल्लों वाली बेरौनक खिड़की को देखकर अचानक कहीं उन दृष्यों में चला जाता हूँ जो नाना ने ना जाने कब मेरे भीतर नक्श कर दिए थे। हालाँकि कहीं कोई समानता कभी नहीं होती, लेकिन फिर भी हवा का अनजान झोंका जैसे बताने लगता कि यहाँ मैं पहले भी आ चुका हूँ और बेदखल किया जा चुका हूँ।

लेकिन उनकी एक आदत मुझे बेहद नापसंद थी। वे किसी दिलचस्प किस्से के सनसनाते मोड़ पर इतना बड़ा 'तो' या 'फिर' या 'और' फेंककर पूरी लापरवाही से जर्दा खराब होने या सुपारी सड़ी या महँगी होने या आँगन में छप्पर में झाँकते किसी खपरे के गिरने की बलवती आशंका या इसी तरह के एक हजार नामुराद व्यवधानों में उलझ जाते। किस्सा वहीं पान के पत्ते की तरह धरा रह जाता। मेरी तो कान की शिरायें जलने लगतीं। उद्विग्नता बढ़ जाती। झुँझलाहट होती अलग। जब हम हताशा और खिन्नता व्यक्त करते-करते कि चतुर बाजीगर नाना बात को उसी मुकाम पर नैपुण्यता से फिर खींच लाते और नए रंग भरने लगते। हमारी असंतुष्टि उनकी धीमी धीमी मुस्कान में घुलती चली जाती। अब मुझे पूरा यकीन है कि वे यह सब जान-बूझकर किसी योजना के अंतर्गत करते। हमारा ठुमका उन्हें भाता था। मैं चाहता हूँ कि मैं कागज पर कुछ लकीरें खीचूँ और नाना के चेहरे की वह मुस्कान हू-ब-हू उतार दूँ जो आज भी मेरे दिल में खुदी है, एक मेहनतकश संगतराश की दिलकश कलाकृति की तरह। लेकिन मैं ऐसा नहीं कर पाता, लाख इच्छा होने पर भी क्योंकि शायद वह मुस्कान बड़ी है, मेरी लकीरें छोटी।

उन्हें ढेर सारी बातें आती थीं। अनगिनत किस्से-कहानी-संस्मरण-यात्रा वृतांत लेकिन दोहराव कभी नहीं। एक बार सुनाया, दोबारा नहीं सुनाया गया। हालाँकि वे मुश्किल से आठ जमात पढ़े होंगे लेकिन सूर, तुलसी, कबीर, बिहारी, भूषण, केशव, घनानंद, पद्माकर आदि ज्ञात और अज्ञात कवियों के दोहे, सोरठे, कुंडलियाँ, कवित्त, भाँति भाँति की तुकबंदियों के अलावा मीर, गालिब, जौक, दाग, जोश, इकबाल, फिराक, फैज और न जाने कितने विचित्र तखल्लुस वाले शायरों के कलाम उनकी जबान की नोंक पर कलाबाजियाँ खाते। ऐसे ही लाखों झरनों से वे गागर भर लाते और श्रोताओं को मल-मलकर नहलाते।

उनकी इस खासियत के प्रति घर के लोगों की प्रतिक्रियाएँ अलग अलग थीं। नानी का कहना था कि नाना तो बातों के 'भन्ना' हैं। ('भन्ना' एक बुंदेलखंडी शब्द है जिसका अर्थ है छोटी छोटी रेजगारी वाले सिक्कों को सहजने वाला बर्तन जो दिखता तो ऐसा है कि बहुत ज्यादा भरा है जबकि रकम के हिसाब से उसकी औकात बहुत ही कम होती हैं, यानी नाम बड़े दर्शन छोटे।) मेरी नानी की तकलीफ कुछ अलग किस्म की थी। वे

बड़े समृद्ध परिवार की बेटी थीं। उनके पिता ने एक छोटे जमींदार के रूप में जिंदगी की शुरुआत की और अपनी मेहनत और मेधा के बल पर राजाओं जैसे ऐश्वर्य को हासिल किया। नानी ऐसा धीर-वीर और वैभवशाली नायक अपने पति में भी चाहती थी इसलिए नहीं कि वे एक सुविधापरस्त औरत थीं, उन जैसी मेहनतकश महिला मैंने कोई दूसरी नहीं देखी, तब भी और आज भी। उनके क्षोभ का बड़ा कारण यह था कि उनके मन के अभिमान को निरंतर एक तनाव में रहना पड़ता था।

उनके पिता के दम से बरस रहे पैसों से भाभियों-भतीजियों के पैर धरती को नहीं छू रहे थे और इधर पति की लापरवाही और उड़ाऊ-खाऊ आदतों से अपने पैरों की ही जमीन नीचे और नीचे धसकती चली जा रही थी। साफ तौर पर एक साकार अंतर आँखों को रोज चुभता था। लोगों की टेढ़ी बातें, आँखों के तिरछे इशारे और पीठ पीछे की हँसी इस नस्तर को निरंतर गहराते जा रही थी। हालाँकि नाना बहुत बड़े खानदान की अंतिम निशानी थे। सन् 1957 में जब अंग्रेजों के वर्चस्व के खिलाफ पहली बार हिंदोस्तानियों ने सामूहिक रूप से हथियार उठाए, तब उत्तर भारत की अनेक रियासतों ने बागी सिपाहियों को मदद दी। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने विद्रोह को रौंदना शुरु किया तो उसकी चपेट में एक छोटी रियासत के दीवान भी आ गए। उनको फाँसी दी गई। पूरे परिवार को तहस नहस कर दिया गया। सिर्फ दो नाबालिग लड़के कुछ वफादार सिपाहियों और हितैषियों द्वारा बचा लिए गए। एक की उम्र 16 साल, दूसरा सिर्फ 13 साल। हजारों मुसीबतें झेलते हुए और भय, कष्ट, आशंका तथा जिल्लत से गुजरते हुए वे दोनों मध्यप्रदेश के जबलपुर शहर के करीब पनागर में आ गए। पनागर एक बहुत छोटा कस्बा था जो उनका शरणस्थल बना। दोनों भाई कुछ बहुमूल्य जड़ाऊ गहने भी साथ ला पाए थे लेकिन जिन पर सहज विश्वास किया, उन्होंने सरलता से लूट भी लिया। यह किस्सा जितना दिलचस्प है, उतना ही दुख देने वाला भी। नाना गहरे धँसकर सुनाते थे। पुरखों की वेदना उनकी वाणी को बार-बार कँपा जाती। वे बताते कि किस तरह दोनों भाई भूखे पेट सोए, मंदिरों के परिसर में पड़े रहे लेकिन भीख नहीं माँगी, किसी के आगे हाथ नहीं फैलाए। दीवान के बेटे थे। बंदूक चलाना जानते थे, सो किसी तरह एक छोटी गढ़ी के ठाकुर की ड्यौढ़ी पर तैनात हो गए। जैसे-तैसे एक कोठरी का इंतजाम किया। छोटे भाई का नाम मदरसे में लिखाया। बड़े ने रोटी पकाई, खिलाई-खाई और ठाकुर की हाजिरी में बिला-नागा मुस्तैद खड़े हुए।

बहरहाल, धीरे-धीरे समय बीतने लगा। ठाकुर सहृदय था। उसने लड़के की मेहनत, ईमानदारी और शराफत को पहिचान कर उसे कारिंदा बना दिया। बड़े भाई गाँव-गाँव घूमने लगे और दुनिया के अच्छे-बुरे तजुर्बों ने उन्हें आगे की राह सुझाई। नाना जो सुनाते थे, उसमें इस मोड़ पर बहुत अच्छा लगता था जब छोटे भाई ने बड़े भाई की इस कमरतोड़ मेहनत को देखा, सोचा-समझा और आगे पढ़ाई से इनकार कर भाई के बगल में खड़ा हो गया कि अब एक नहीं दोनों मिलकर दुनिया से लड़ेंगे। यह इतिहास हो सकता है लेकिन यहाँ पर अच्छी कहानी के आनंद आते हैं, पुराने वक्तों की धार में बहती कोई दास्तान! जो मन में घर बना लेती है और दुनिया उजड़ जाए, ऐसी कहानियाँ कभी मन से कोई नहीं पोंछ पाता।

फिर जैसा होता है, दिन बदले। नाना बताते, बड़े भाई ने जमीन-जायदाद खरीदी। सुख-संपत्ति घर आवे, टाइप की तमाम मिलती-जुलती बातें होती रहीं। बड़े भाई ने अपनी शादी की और छोटे भाई की भी। लेकिन बड़े की कोई संतान नहीं हुई। छोटे का एक ही लड़का हुआ, न कोई आगे, न कोई पीछे। बड़े भाई इस बच्चे को गोद में लेकर अपने निस्संतान होने का दुख भूल गए। पूरी शानो शौकत, लाड़-प्यार और नाजो-अंदाज से बच्चे को पाला गया। यह लड़का बड़ा भाग्यशाली था जिसने आँखें खोलते ही वैभव और सुविधा के संसार को अपना इंतजार करते पाया। तमाम दौलत, मोहब्बत और किस्मत उसके ऊपर सातों आसमान से बरस रही थी। उसने नसीब को अपने तरीके से देखा। सामंती संस्कारों ने उस पर पूरी छाप छोड़ी और जल्द ही एक ऐसी जिंदगी जीने लगा जिसमें शौक, सोहबत, नफासत, तहजीब, दरियादिली, कीमती लिबास, शेरो-शायरी, विद्वानों की संगत, बग्घी, शिकार, रोमांचक वारदातें, अड्डेबाजी, महफिलों के शोर-शराबे, शतरंज, चौपड़, घुड़सवारी, शराब-कबाब, इश्कबाजी तमाम चीजें जरूरत से ज्यादा शामिल थीं। इफरात पैसा। आजादी में खलल नहीं। उम्र के बहकते तकाजे। जनानी की मस्ती। यारों का साथ। जमाने से दो दो हाथ करने का ताव। अब और क्या चाहिए एक मस्तमौला लौंडे को जिस पर आँख के अंधे और गाँठ के पूरे बुजुर्गों की रहमत और मोहब्बत का साया था। एक नाव थी जो नदी के दो नहीं अनेक किनारों और घाटों पर उन्माद और अय्याशी में डगमगाती, कहकहे लगाती, चली आ रही थी। यही थे मेरे नाना।

उनकी जिंदगी का एक लंबा, बहुत बड़ा हिस्सा इसी मजा-मौज में बीता। ताऊ और बाप के मरने के बाद खुदमुख्तार हुए। एक बड़ी जमींदारी को सँभालने का भार उन पर आया लेकिन वे अपने रंग में डूबे रहे। दोनों हाथ पैसे उलीचते रहे। वे पैत्रिक जायदाद को बढ़ा नहीं पाए, हाँ घटाया काफी। एक निष्ठुर, क्रूर जमींदार की तरह वे रिआया का शोषण नहीं कर सके। यह हुनर उन्हें आया ही नहीं। मन में एक भक्तवत्सल राजा की तसवीर थी जिसका धर्म प्रजा-पालन है। वे हमेशा इस गर्व में डूबे रहे और इस खातिर जमा पैसा लुटाते रहे। विपदाओं के समय गरीब रिआया से सख्ती से जमींदारी, लगान वसूल नहीं की लेकिन सरकार उन जैसी नहीं थी सो घर से पैसा निकाल कर सरकारी खजाने को भरा। दीन-हीन भूखे नंगे किसानों पर उनका हाथ हंटर फटकारे के लिए नहीं उठ सका। लोगों ने कहा वे बर्बाद हो रहे हैं, निकम्मे हैं, सब कुछ लुटा देंगे और हुआ भी ऐसा ही कुछ। सब कुछ लुट गया। वे एक बड़े जमींदार की हैसियत से धीरे-धीरे कम होते चले गए और अंत में उनके पास एक पुराना पुश्तैनी जर्जर मकान और कुछ बीघा जमीन रह गई। लेकिन उन्हें कोई गम नहीं रहा। उनको संतान के रूप में एक ही लड़की मिली जिसका विवाह उन्होंने बड़ी धूम धाम से खाते-पीते घर के इकलौते लड़के से कर दिया। इस उपक्रम में उनके बहुत कुछ खेत भी बिक गए लेकिन वे मुतमईन थे कि एक बड़ा जरूरी दायित्व पूरा कर लिया। लड़की भले घर में है और खुश है। भला अब क्या चाहिए इज्जत की दो रोटी सो बची-खुची जमीन किसी तरह दे ही देगी! आँख मूँदने के बाद उसकी भी जरूरत नहीं।

रिश्तेदारों और दोस्तों की एक पूरी जमात नाना के कंधों पर चढ़कर मेले का पूरा मजा चाहती थी और जिसके लिए तमाम सुख सुविधाओं का एक अनंत सिलसिला भी, वे महसूस करते जा रहे थे कि उनके गुलछर्रों में कमी होती जा रही है। इस कुएँ का पानी कम होता जा रहा है। इस स्थिति के लिए वे नाना को दोषी ठहराते, कानाफूसी करते और नाना को नालायक सिद्ध करते।

नानी सब कुछ देखती रहीं। उनके विरोध और समझाइश का कोई असर नाना पर ना हुआ, उल्टे वे कहते रहे कि जिंदगी तो पानी पर खींची गई लकीर है, मूरख इसका क्या ऐतबार करती है। नाना की इन बातों से नानी की मन की यह वेदना कभी खत्म न हो सकी। उन्हें अंत तक मन में क्षोभ रहा। अपने पिता से कुछ लेकर हैसियत बनाना

उनके मन को भला नहीं लगता था। वे अपनी लकीर बढ़ाना चाहती थीं लेकिन रोज छोटी होते हुए देखती रहीं। तब भी वे पूरे मन से नाना की गृहस्थी में लगी रहीं। नाना को उन्होंने कभी घटिया पुरुष के रूप में नहीं देखा और हमेशा नाना के दुख सुख में शरीक रहीं, लेकिन उनके मन से यह बात कभी नहीं गई कि अगर ऐसा होता तो कितना अच्छा होता, अगर वैसा होता तो क्या गलत होता। जहाँ तक मैंने महसूसा और धीरे-धीरे मुझे पता भी चलता गया कि नाना को नानी के मन के इस कोने की जानकारी थी किंतु वे हमेशा उनका मजाक उड़ाते रहे। क्या वाकई ऐसा था? क्या सामंती संस्कारों में पले-बढ़े नाना के मन में कभी यह विचार स्वाभाविक रूप से ना आया होगा कि दुनिया को जीतकर नानी को रानी के राजसिंहासन पर बिठा दिया जावे! एक पुरुष के स्त्री के प्रति स्वाभाविक प्रेम में क्या ऐसा तीव्र ज्वार न उठा होगा। कई सालों तक मेरे दिमाग में ये प्रश्न कुलबुलाते रहे, लेकिन जिंदगी को स्लेट पर नियति के लिखे-अनलिखे अक्षरों के अभ्यास के दौरान मैंने माना कि नाना ने ऐसा सब कुछ सोचा होगा। वे इस कशमकश से भी गुजरे होंगे लेकिन वे कुछ कर नहीं पाए क्योंकि मनुष्य अपनी मूलभूत प्रवृत्तियाँ को चाहकर भी बदल नहीं पाता। वह अपने भीतर का बहुत कुछ तोड़ता है, बहुत कुछ नया जोड़ता है लेकिन जिस जमीन पर यह खेल रचाया जाता है, उसे नहीं बदल पाता है, तभी तो 'अ' 'ब' नहीं हो सकता, 'ब' 'स' नहीं हो पाता। आसमान बदलने पर बदल जाते हैं लेकिन जमीन नहीं बदलती।

नानाजी कलेक्टर या किसी बड़े अधिकारी से कभी नहीं मिले, चाहे उन पर कितनी बड़ी मुसीबत क्यों ना पड़ी हो। जमीन-जायदाद, मालगुजारी, लायसेंस आदि उस वक्त के जमाने भर की झंझटों में अक्सर ऐसे मौके आते हैं जब हुजूर के दफ्तर में बहैसियत मातहत हाजिर होना पड़ता है लेकिन नाना ने ऐसे मौकों को हमेशा टाला। जब कभी सर पर ही आन पड़ी तो बाकायदा पूरे तुर्रे के साथ बराबरी से बात की, कदम कदम पर इस सजग निगरानी के साथ कि कमबख्त कोई ओछी बात या बेइज्जती का धब्बा उछलकर अचकन तक ना पहुँचे। जमींदारों को जूते की तुफैल है। आदमी के पास जो हैं, सिर्फ इज्जत ही है। इक बालिश्त ऊँची नाक, कटने ना पाए, लिहाजा गर्दन कटाना मंजूर है, गर्दन झुकाना नहीं।

हुक्मरानों को ऐसे अकड़ू खाँ कभी पसंद नहीं आए। गुस्ताखियाँ कभी बख्शी नहीं गई। नाना को काफी आर्थिक मुसीबतें और मानसिक परेशानियाँ भोगना पड़ीं लेकिन नाना को सौदा घाटे का कभी नहीं लगा। फिर भी अपने इर्द गिर्द के लोगों की बातें और दुनिया का चलन देकर बाजवक्त वे ठिठक जाते। अपने सही या गलत होने के भ्रम में पड़ जाते और भीतर न जाने क्या कुछ खोजते रहते, टटोलते रहते।

मेरी माँ चुपचाप नाना की बातें सुनती रहती थी। अजब प्रेम का बंधन था। ममता से उनकी पलकें उठतीं और नेह से भींगकर झुक जातीं और कभी उनकी आँखों में ऐसा आहत भाव होता जैसा जब कोई माँ अपने नालायक बेटे के चर्चे सारे शहर में सुन आई हो और अब दलान में दुख की आड़ में बैठी, उसी बेटे की एक और हरकत देख रही हो। नाना इस चीज को कभी ताड़ जाते और कभी अपनी रौ में बहते रहते। लेकिन जब कभी वे माँ की ऐसी मनःस्थिति को ताड़ जाते, वे धीमे से हँसते। वह हँसना नहीं, गले से करुणा का टूट-टूटकर बिखरना होता। जब वे नहीं हँसते, तब शांत भाव से कहते; 'बिट्टी पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात। देखते ही छुप जाएगा ज्यों तारा परभात।' फिर वे दोनों देर तक चुप हो जाते। मैंने उन दोनों को इस तरह चुपचाप बैठे बहुत देखा है। जब मैं बहुत छोटा था, मैं समझ नहीं पाता, ऊबने लगता और उन्हें तंग करने लगता लेकिन जैसे जैसे कुछ बड़ा होता गया, मैं भी चुप होता चला गया। वह एक चिरपरिचित दृष्य बना रहा, बरामदे में या आँगन में तखत पर बैठे नाना और दीवार या खंबे से पीठ टिकाए बैठी माँ, धीरे-धीरे घिरती हुई सुनसान शाम, आकाश के शून्य में किसी एकाकी पंछी की उड़ान, काली निस्तब्धता में डूबती दहलीज, झींगुरों की क्रमशः पुख्ता होती चीखें, एक चींटे का बेमतलब बगल से निकल जाना, अभी अभी रखी गई लालटेन की पीली रोशनी का दीवाल पर काँपती हुई आकृतियों और धब्बों का बड़ा-छोटा होना। उदासी मेरी जिंदगी में पहली बार इसी रास्ते से आईं। हाँ, हाँ, नाना, मुझे याद है, हाँ माँ, मैं सब वैसा ही याद करता हूँ।

नानी की मौत के बाद नाना अकेले रह गए। वे मुरझाए पर सूखे नहीं। उन्होंने पहले जैसे रहने की हरचंद कोशिश की लेकिन माँ जानती थी कि लाख चतुराई से अपना हाल छुपाते नाना अकेले गृहस्थी के झमेले झेल नहीं पायेंगे। अब तक नानी ने हालाँकि घिसट-घिसटकर, उनकी व्यवस्थित दिनचर्या को बनाए रखने में कोई

कोर-कसर नहीं छोड़ी, मगर अब इस उमर में नाना दैनिक जीवन में उस आराम के अभ्यासी हो चुके थे जिसमें रत्ती भर कमी आने पर उन्हें भारी कष्ट होना तय था। माँ का भीतरी संकल्प उन्हें फिर उसी सुख में रखने का था जो वे बाबूजी के भय से स्पष्ट व्यक्त नहीं कर सकती थीं लेकिन प्रयास उसी दिशा में थे। वे नाना को अपने घर में साथ रखना चाहती थीं जबकि नाना को यह बात जम नहीं रही थी। हालाँकि खुलकर इस प्रस्ताव पर कभी कोई बात नहीं हुई। बातों का रुख इसी लपेटे के गिर्द घूमता रहता और नाना बचने की फिराक में रहते। मेरी समझ में नहीं आता कि नाना का ऐतराज क्या है लेकिन नाना आसानी से समझ में आ जाएँ, ऐसा क्या कभी हुआ है जो तब होता!

नाना की पहली और आखिरी लेकिन मुख्य दलील तो वही पुरानी सड़ी-बुसी थी कि बेटी के घर आपातकाल में ही खाना खाया जाता है तो मुस्तकिल तौर पर रहना कैसे संभव है और व उस धर्म की बातें करने लगते जिसकी लानत-मलालत उन्होंने जिंदगी भर तबियत से की। साफ था कि यह उनके बचने का तरीका था। वे जिस मिट्टी के बने थे, उस मन की दुविधा का खटका कुछ और था जिसे कह देने से वे बच रहे थे। तब हम बच्चे यह सब नहीं जानते थे और प्राण-पण से नाना को अपने साथ रखने पर उतारू थे। आखिरकार नाना को हम सबके सम्मलित मोर्चा के आगे हथियार डालना पड़े लेकिन उनके मन में सुकून नहीं था। अलबत्ता माँ खुश थीं और इस बार हम लोगों के प्रति, खास तौर पर मेरे प्रति कृतज्ञता का पुलकित भाव भी जिसने मुझे अचरज में भी डाला लेकिन साथ ही उनसे मुझे एकबारगी और अधिक गहराई समर्पण से जोड़ दिया।

नाना को असफल और निकम्मा कहने वाले बहुत थे, दूर के, पास के। सिर्फ मेरी माँ ही ऐसी थीं जो चुप रहतीं पर उनकी चुप्पी सहमति की प्रतीक न थी बल्कि उसमें गहरा आक्रोश और दुख के साथ-साथ तीखा गुस्सा और नाना के लिए अपार सम्वेदना तथा सहानुभूति भी टकी होती जिसकी वजह से मैं माँ को सदैव अपने करीब समझ पाया। अपने पिता के लिए माँ का प्रेम किन्हीं भी शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। भाषा के बाहर, भावों के ऊपर और समर्पण में अछोर डूबा हुआ, मानवीय करुणा, निष्ठा और ऊष्मा से भरा-भरा, नित नया नया सा होता प्रेम, करुणा तथा वात्सल्य

का वह अद्भुत सैलाब जिसमें आवाज नहीं, गर्जन नहीं, भावुकता नहीं, रुदन नहीं, मंथर-मंथर बहता पानी...! कोई शिकायत नहीं, अपेक्षा नहीं, दबाव नहीं, वे नाना को सब तरह से देखतीं, उनके आदेशों की प्रतीक्षा करतीं और उनकी सेवा-टहल में जुटी रहतीं। इसमें उन्हें कोई क्षोभ नहीं, कष्ट, तकलीफ, सुस्ती कुछ भी नहीं। वे बहुत कम बोलतीं, हमेशा की तरह नाना ही बोलते रहते। वे सिर्फ सुनती रहतीं और नाना की इच्छा या आवश्यकता के अनुसार हुंकारा भरती जातीं।

जब माँ बहुत बूढ़ी हो गई थीं, और मैं नाना के बारे में पूछता था तब उनके मुँह पर अपूर्व खुशी झलकती। खिली खिली धूप में धुली हँसी! उनके लिए यह एक अतिप्रिय प्रसंग होता। सब काम छोड़कर वे नाना के बारे में ढेर सारी बातें बतातीं और मन मुदित ढेर भर हँसती रहतीं। तब मुझे उनकी हँसी अच्छी लगती। वे बुढ़ापे में अक्सर उदास और हताश रहने लगी थीं। इस तरह उदासी का छट जाना भला लगता। फिर वे दूने उत्साह में नाना की आदतों, उनकी रुचियों, उनकी तुनुकमिजाजी के किस्से बहुत प्यार भरे गर्व-भाव से देर तक सुनातीं। कहते-कहते आँखें छलछला उठतीं पर कहे बगैर उन्हें चैन नहीं पड़ता और मैं भी नहीं टोकता। उनकी खुशी मेरे मन में नाना की हँसी के साथ मिलकर एकरंग हो जाती। ये मेरे निजी खुशी के दुर्लभ क्षण हैं जो आज भी मेरे पास सहेज कर रखे हुए हैं।

माँ के बतलाए प्रसंगों में वे किस्से खास तौर पर प्रमुखता से होते जिनमें नाना अपनी वाक्पटुता से किसी बड़े दरबार या महत्वपूर्ण महफिल में ईर्ष्याग्रस्त विरोधियों को धूल चटा देते अथवा किसी मुश्किल सवाल या पहेली का हल आनन-फानन में ढूँढ़ निकालते। आत्माभिमान और सम्मान की खातिर कोई भी जोखिम उठा लेने की पिता की तत्परता पर उन्हें दिल की गहराई से नाज था। इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर गहरा पड़ा था। वे खुद बहुत खुद्दार और बात की आन पर मर मिटने वाली थीं। उन्हें ओछे और कमजर्फ इनसान सख्त नापसंद थे। झूठे, मक्कार और बनावटी लोगों के खास चिढ़ थी। स्वभाव में पिता की अनुकृति होने के बावजूद वे कई मायनों में उनसे भिन्न थीं। एक तो वे बहुत कर्मठ और अनवरत क्रियाशील थीं। जिस किसी काम को हाथ में लिया तो उसे पूरी जिम्मेदारी से, समुचित कलात्मक सलीके से और सम के पहले पूरा करके ही दम लेतीं। उनके काम में खोट निकालना ऐसा

असंभव काम था जिससे बचके रहने में हर समझदार अक्लमंदी समझता। प्रच्छन्न रुप से माँ भी इस बात से गर्वित रहतीं। अपनी अनोखी कर्मठता के दम पर उन्होंने जिंदगी के अनेक ऐतिहासिक संघर्षों में खुद को विजयी सिद्ध किया। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है और ना ही अपनी माँ के प्रति भावुकता से लथपथ भावोद्वेग है बल्कि ऐसी सचाई है जो देखने, सुनने और जानने लायक है।

लगभग 3 बज रहे थे। ठंड की दोपहर थी, नवंबर या दिसंबर। मुझे याद है कि धूप कुछ कुछ प्यारी लगने लगी थी। शाम होते होते घर के कोने-कोने से ठंड की कँपकँपाती आहट सुनाई देने लगती थी और रजाई को एक मनपसंद साथी की तरह पोर पोर तक लपेटने का मन होता।

धूप पुराने खाली बारदान की तरह बरामदे में व्यर्थ पड़ी थी। आसनी पर नाना जी उकड़ूँ बैठे थे। जाने किस सोच में थे। चूँकि मैं जरा देर से आया था सो बात का सूत्र पकड़ नहीं पाया था। सिर्फ नाना जी को देखा और माँ को जो संजीदगी के साथ पान लगा रही थीं। मैं चुपचाप बैठ गया। इसके अलावा और कुछ किया जाना माँ को नागवार गुजरता। वे मेरी ओर जिस हल्केपन से देखती, उस निगाह को बरदाश्त करना मेरे लिए हमेशा मुश्किल रहा।

अपने दोनों हाथों की गिरफ्त में सिर को दबाकर नाना ने गर्दन नीची की। एक हल्की कराह उठी और नाना की आवाज भी "बिट्टी, नमन करना नहीं आया, मुझे बहुत कुछ करना नहीं आया, कभी चाहा भी अपने में सिमट कर रह गया।"

माँ का स्वर करुणार्द्र था - "ऐसा क्यों कहते हो..."

"तुमसे ही कह पाता हूँ..." नाना बोले थे;

"...और किसी से तो ना कह सकूँगा। तुम्हारी माँ से कहा था, वह कभी समझ नहीं पाई। तुमसे इसलिए कह पाता हूँ कि क्योंकि लगता है, तुम समझ सकोगी या इसलिए भी कि तुम मुझे बेहतर समझती हो।"

माँ अपलक सुनती रहीं और मैं भी! नाना अपनी रौ में बोलते रहे - "तुम्हारे ये जज्बात मुझे खुशी देते हैं। छाती चौड़ी करने वाले हैं। लेकिन बिट्टी, आज बता रहा हूँ, भूलना मत। लोग रीढ़ की हड्डी पसंद नहीं करते। अपने दुख तो साथ खींचकर मैं ऊपर ले जाऊँगा लेकिन जिन्हें मैंने अपने जैसा बना दिया, उनकी तकलीफ का क्या उपाय, बोलो तो। एक कोढ़ी जब संसार से जाता है तो चार लोगों को कोढ़ दे जाता हैं। यह नियति है बिट्टी, मेरी भी, तुम्हारी भी। अब मैं हँसूँ कि रोऊँ, कौन बताएगा...???"

वे बोलते रहे। माँ पल्लू की आड़ किए रो रही थीं लेकिन आवाज नहीं आ रही थी। नाना वैसे ही बैठे थे, गतिहीन, अचल... शाम घिर रही थी। कीड़े-मकोड़ों की आवाज तेज होती जा रही थी। आँगन के पेड़ अपरिचित और मनहूस होते जा रहे थे। चारों तरफ कठिन धुआँ और अँधेरा था। दुनिया लगातार छोटी होती जा रही थी यहाँ तक कि नाना और माँ भी छिटक कर बाहर पड़े हुए थे। मेरे मन में कोई अजनबी पीड़ा थी, यद्यपि कहने को मुझे कोई दुख नहीं था लेकिन आँखें भीगी थीं। तब मैं नियति के बारे में कुछ नहीं जानता था। अगर जानता होता तो भी क्या उसका रुख मोड़ सकता था!!

हमारे घर इतने बड़े होते हैं कि उनमें ब्रह्मांड समा जाता है और बाजवक्त वे इतने छोटे हो जाया करते हैं कि एक आदमी चैन से ना रह सके। बाहर से देखकर कोई नहीं बता सकता कि अंदर क्या चल रहा है, अक्सर घर में रहने वाले भी। दिन और रात धरती की तरह निःशब्द घूम रहे दूसरे घरों की तरह हमारा घर भी दो धुरियों पर परिक्रमा करता था। एक तो माँ जिनकी अपनी कोई आवाज नहीं होती लेकिन कोई भी आवाज उनके बिना ना तो पैदा होती और ना ही पूरी हो पाती। दूसरी धुरी बाबूजी थे जिनकी आवाज हर पल घर के बाहर-भीतर गूँजती रहती थी, जब वे होते तब और जब ना होते तब भी। वे आवाजों के हुजूम थे और कभी बेआवाज नहीं रह सकते थे। लगातार बोलते थे। इसलिए भी बोलते थे क्योंकि उनकी बात लगातार सुनी जाती थी। यह हमारे घर का चलन था और परंपरा थी। उनके पिता भी उनकी बात ध्यान से सुनते थे और शुरु से ही उन्होंने घर का माहौल ऐसा बनाया कि घर में रहने वाले और घर से ताल्लुक रखने वाले नौकर-चाकर समेत सभी जन-परिजन मय रिश्तेदार "भैय्या" की जानिब संजीदगी से मुखातिब रहें। परंपरागत लगभग अपढ़ खानदान में

भैय्या इलाहाबाद से वकालत पढ़कर आए थे और शहर में कुल जमा चार वकीलों में चौथे नंबर के मशहूर हो रहे वकील होने की तैयारी में थे।

मेरे दादा बहुत ही गरीबी में पले और बढ़े हुए। शिक्षा भी छठीं क्लास से ज्यादा नहीं हो सकी पर भाग्य से सरकारी मालखाने में नौकरी पा गए। उस पर सोने में सुहागा यह कि बला के तिकड़मी और अकल के तेज। नौकरी के दौरान ही उन्होंने सूदखोरी का काम ऐसा फैलाया कि जल्द ही लक्ष्मी पाँव चाँपने लगी। उन्होंने अपनी जिंदगी भयानक अभावों के बीच से शुरू की थी। तपती दोपहरी में नंगे पैरों ने, भयंकर सरसराती ठंग से फटी कमीज ने और दुश्मन की तरह बरसती बारिश में बेघर होने के अहसास ने उन्हें सिखाया था कि रोटी कैसे कमाई जाती है, खाई जाती है और बचाई जाती है। ईश्वर भी उन्हीं की बिरादरी का था। उसने भी दो फूहड़ पत्नियों की जुगलबंदी के साथ लगातार आठ बेटियों का धाराप्रवाह आशीर्वाद दिया और आखिर में बची-खुची खुरचन में एक बेटा भी अता कर दिया ताकि एक काँटा भी जिंदगी भर गड़ता रहे। लेकिन दद्दू इस पर भी निहाल हो गए और गुलाब की तरह उसे सँजो कर रखा। मेरे बाबूजी वही लाल गुलाब थे। दद्दू बाप होकर भी जीवन भर बेटे के सेवक रहे और उनकी हद दर्जे की चिंता-फिकर ने बाबूजी को भी जन्म से यह यकीन वाकई दिला दिया कि वे एक लाल गुलाब हैं और उनका सिर्फ महकना है और आसपास के और बाद में दूर-दराज के भी लोगों का दायित्व है कि वे उनके महकते रहने की तमाम कोशिशों में जी-जान से लगे रहें। दद्दू के पद, पैसा और प्रभुत्व की गिरफ्त में आए लोग बाबूजी के साथ उनके मनमाफिक सुलूक करते रहे। नतीजा यह कि जब दद्दू मरे, बाबूजी आठ बच्चों के बाप हो चुके थे, 45 साल के हो चुके थे और निकम्मे और निठल्ले वकील के रूप में शहर में मशहूर हो चुके थे।

और तब उन्हें पता चला कि मौसम का रंग किस कदर बदलता है, इस तरह कि लुभावने रंगों में मुस्कुराता आसमान धारासार मुसीबत बरसाने लगता है। जल्द ही दद्दू की जमा रकम कपूर की तरह उड़ गई। गुलछर्रे हवा हुए। घर-गृहस्थी के बोझ से बदन दोहरा हुआ। जिंदगी की काल-कँटीली झाड़ियों से भरे दुर्गम रास्ते पर चलते हुए उन्हें हरदम किसी एक उँगली की याद आती जो दद्दू ने हमेशा उन्हें थमाई थी। इस पर एक उँगली भर उम्मीद उन्होंने अपने इर्द गिर्द के सभी जनों में ढूँढ़ी, माँ, पत्नी,

मित्र, बहन, रिश्तेदार, बच्चों में, सभी में। उन्होंने वही उँगली नाना में ढूँढ़ना चाही जो नहीं मिली। वह मिलनी भी नहीं थी क्योंकि नाना के जहन में दामाद का जो प्रभावी चित्र था, वह एक विद्वान और संपन्न वकील का था। यूँ तो नाना अपने तईं अपूर्व ज्ञानी थे लेकिन जब तब उन्हें दामाद की इलाहाबाद विश्वविद्यालय की वकालत की चमचमाती डिग्री के सामने अपने आठवीं कक्षा के उस सर्टिफिकेट की याद आती जो वे फेल होने के कारण कभी प्राप्त नहीं कर सके थे। इसके अलावा बाबूजी के राजसी ठाठ-बाट के आगे उनकी दिनोंदिन बढ़ती विपन्नता उन्हें बराबरी से बात करने से हमेशा बरज देती। वे चुपचाप थोड़ा पीछे हट जाते। उनके भीतर की यही ग्रंथि हमेशा आड़े आई। मैंने नाना को कभी बाबूजी से बराबरी पर रसवार्ता करते नहीं देखा। वे हमेशा एक पायदान नीचे ही होते। दोनों के बीच संबंध काफी औपचारिक थे। अपने अपने दायरे में कैद दोनों एक दूसरे से बेगाने होते चले गए। ना कभी बाबूजी लकीर के पास जाकर खुलके अपनी बात कह सके और ना ही नाना खुद की बनाई सीमाओं को तोड़ सकें।

जल्द ही बाबूजी नाउम्मीद हुए और इसलिए ही नाना से निरपेक्ष हो गए। उन्हें लगा, सिर्फ अपने ऊपर पैसा बर्बाद करने वाला यह आदमी घुन्ने किस्म का चालाक और मक्कार है जिसे बच्चों का जमावड़ा कर लच्छेदार बातों की बुनाई-कताई के अलावा कुछ नहीं आता।

अक्सर बाबूजी ऐसा कुछ कह देते जो सीधे नाना को नहीं कहा जाता लेकिन निशाना उन पर ही होता। तब नाना का चेहरा एकदम स्याह पड़ जाता। आँखों के कोने हल्के से भीग उठते। यातना की लकीर गहरी होती और याचना का भाव उभर आता जो जल्द ही भीतर कहीं बिला जाता। यह सब कुछ इतनी जल्दी हो जाता कि सिर्फ देखने वाली आँखें ही इस दुख को लक्ष्य कर पातीं। ऐसा मैंने कई बार देखा। हर बार दुखी हुआ, गुस्सा आया कभी बाबूजी पर, कभी नाना पर, कभी खुद पर और मन मसोस कर रह जाता। नाना से कह नहीं पाया और वे भी कुछ नहीं बोले, लेकिन इस तरह मैं नाना से कुछ और, कुछ ज्यादा और बँधता चला गया। तब मैं उनसे सटकर बैठ जाता। शायद वे भी समझते और हौले-हौले मेरी पीठ सहलाने लगते। उनके उस स्पर्श में जादू होता। हमारे मन एक दूसरे की व्यथा समझ लेते। कोई राहत कतरा-कतरा आत्मा में भीतर

और भीतर उतरने लगती जैसे ठंडा मीठा पानी का भरपूर दोस्ताना गिलास हलक से नीचे झरता चला गया हो।

बाद के बरसों में जब कभी किसी हाथ ने पीठ को सहलाया, आँख नम हो उठी और अनायास नाना बेहद याद आए।

उस रात को क्या हुआ था, हम बच्चों में किसी को पता नहीं। नाना चले गए हैं, सुबह सिर्फ यह जानकारी मिली। आश्चर्य हुआ कि ऐसे कैसे अचानक चले गए। हम लोगों को बताना तो चाहिए था। खासकर मैं जिसे हैरानी होने के अलावा अपमान ज्यादा महूसस हुआ लेकिन धीरे धीरे अपमान खत्म होता गया और हैरानी के साथ-साथ उत्कंठा बढ़ती गई जब बरसों ना तो नाना शहर आए और ना ही हम गाँव गए।

अंतिम बार बेहद हड़बड़ी में हम लोग गाँव पहुँचे, नाना को जैसा देखा, कभी नहीं देखा था। वे निस्पंद थे। उन्हें खाट के नीचे जमीन पर लिटाया गया था। नंगी काली भूरी ठंडी जमीन पर उनको इस तरह लिटाया जाना मुझे अखर रहा था। पास ही माँ रो रही थी। शायद पहली बार माँ को इस कदर फूट-फूटकर रोते देखा। मौत उस नीम अँधेरे कमरे में मुँह बाए लेटी थी। नाना की मूँछ शांत थीं। शरीर कड़ा और ठंडा। नाना कहीं नहीं थे। मैं दहशत में था फिर भी किसी क्षण लगता कि नाना अभी उठकर खड़े हो जाएँगे और चौतरफा फैलती हँसी से घर गुँजा देंगे। लेकिन नाना ने ऐसा कुछ नहीं किया। चुपचाप लोगों की सभी बातें मान ली। अर्थी पर लेट गए। दुशाला ओढ़ लिया। लोगों के साथ चल पड़े और चिता पर लोगों ने जैसा उतारा और बिछाया, वैसा ही किया। विभिन्न मंत्रों के बीच आग लगाई गई और व चुपचाप जलते रहे। इतना अधिक बोलने वाले नाना कुछ भी नहीं बोले और यहाँ तक कि राख हो गए। इतनी दयनीयता, निरीहता और चुप्पी की मुझे उनसे उम्मीद नहीं थी। तीसरे दिन फूल बीनते समय मेरे मन ने लाख बार पूछा, कहाँ गए नाना? बस क्या यही थे नाना, नाना नाना...

वे दिन मेरे लिए भारी उलझन, व्यथा, पीड़ा, निराशा और तिलमिलाहट के थे। कुछ भी जानने की इच्छाएँ और जिज्ञासाएँ खत्म हो रही थीं। जो समय हमारी रग-रग में अरमान की तरह बह रहा था, आज वह स्मृतियों के सूखे कत्थई थक्कों में बदल गया!

जो आवाजें हमने सुनीं, पीछ पीछे पत्थरों में तब्दील हो गईं! जो कल तक हमारे साथ थे, न जाने किस धुंध भरे मोड़ों पर गायब हो गए और आज फकत उनके साथ चलने के निशान दिल की खाली दीवारों पर गर्द भरी खस्ताहाल तसवीरों के मानिंद उजाड़, लटकते रह गए! क्या हमें वक्त की यह कैफियत उस दौरान पता थी जब बड़े जोश, उम्मीद और हौसले से किसी दामन को छुआ था!

वक्त के हाथों हमारे दिल की इस तरह पैमाईश को ही क्या जिंदगी कहते हैं? तो फिर जिंदगी का मसरब क्या सिर्फ और कुल इतना ही हुआ! एक सिरे से दूसरे सिरे तक हवा का बह जाना और फिर अथाह अनंत खालीपन, सूना जैसे रेगिस्तान, चुप जैसे बाबड़ी और अकेला जैसे और जितना निरभ्र आकाश!

इस तरह की बेचैनी भरी धुंध मेरे दिमाग में तब से उठना शुरू हुई। तय बात है कि इन पेंचीदगियों को नहीं जान सकता था लेकिन एक हलचल तो थी, भले ही अनाम और अज्ञात। फिर बाद में, बहुत बाद में इन धुंध में कुछ जानी-अनजानी आकृतियाँ उभरने लगीं और अरसे बाद समझ में आया कि ये कुछ सवाल हैं जो जिंदगी के मुताल्लिक हैं। जो पहले पहले सवाल मेरे मन में उठे, वे नाना को लेकर ही हुए। यकीनन वे सवाल ही थे क्योंकि उनमें आत्मीयता भरी बेकरारी, बेचैनी भरे संशय और एक अजब कशिश थी। इसके साथ ही मन के भीतर सुई चुभने जैसी तकलीफ और करुणा की क्षीण धार भी थी जिसकी बूँद बूँद का सतह पर गिरना मैं अपने आर्त मन में शिद्दत से महसूस कर रहा था। बारिशों की आसमानी फुहारें जिस्म की रग रग को खोलती हैं लेकिन जब कभी इन्हीं-इन्हीं बूँदों का गिरना दिल की जमीन पर होता है, तब जो भाप उठती है, किसी करवट चैन से नहीं रहने देती। नाना का जाना इन्हीं बूँदों का निरंतर गिरते रहना है।

https://www.hindiadda.com/namaskar-nana/